

आचार्य हरिभद्र और पतंजलि के योगशास्त्रों में ईश्वर व क्रियायोग: एक समीक्षा

सारांश

प्राचीन काल से प्रचलित योग शब्द युज् धातु से निष्पन्न होता है। जोड़ने अर्थ को द्योतित करने वाली युज् धातु से निष्पन्न योग अत्यन्त वैज्ञानिक विषय है। आध्यात्मिक अर्थ में आत्मा को ब्रह्म से जोड़ने का साधन योग है। अहिंसा – वैर को दूर करके जीव को जीव से सम्पृक्त करने वाली शक्ति योग है, आसक्ति से अनासक्ति में प्रवृत्तिकरण योग का लक्ष्य है। बहिर्मुखी चित्तवृत्तियों का निरोध कर अन्तर्मुखी करना योग है। महर्षि पतंजलि ने "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" कहकर जिस योग का सूत्रपात किया है वह योग सार्वभौमिक एवं वैज्ञानिक है जिसका विस्तार आचार्य हरिभद्रसूरि ने आत्मस्पर्शी शब्दों में किया है।

मुख्य शब्द : जैनदर्शन, योगदर्शन, क्रियायोग, भारतीय दर्शन।

प्रस्तावना

पातंजलि योगदर्शन सांख्य दर्शन की साधनापद्धति का प्रतिनिधि ग्रंथ है। आचार्य हरिभद्र के योगविषयक ग्रंथ जैनदर्शन का प्रतिनिधित्व करते हैं। आचार्य हरिभद्र की दृष्टि बहुत उदार एवं समन्वयात्मक रही है। उन्होंने उभय परम्पराओं में सामंजस्य की एक विशेष चिन्तन दृष्टि प्रदान की है जो योगाभिलाषियों के लिए पथप्रदर्शक बन सकती है। सभी दार्शनिक परम्पराओं में योग शब्द निवृत्ति-मूलक है। जैन परम्परा में भी निवृत्ति को विशेष महत्व दिया गया है। इस कारण से अनेक समानताएं चाहे वे शब्दगत हों, अर्थगत हों, अथवा विषयगत हों प्राप्त होती हैं, जिन पर हम आगे प्रकाश डाल रहे हैं।

अध्ययन का उद्देश्य

भारतीय दर्शन केवल बौद्धिक व्यायाम नहीं हैं प्रत्युत एक साधना पद्धति भी है। यद्यपि जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों ही परम्पराओं के साहित्य में साधना का विवरण मिलता है। प्रस्तुत लेख का उद्देश्य वैदिक परम्परा के पतंजलि और जैन परम्परा के आचार्य हरिभद्र के योग ग्रंथों में ईश्वर व क्रियायोग के चिन्तन की समीक्षा प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। यह लेख निःसंदेह शोध कर्ताओं के लिए दोनों परम्पराओं को समझने में उपयोगी सिद्ध होगा।

पतंजलि ने साधन में योग को आधार बनाया। आज योग शब्द बहुत प्रचलित है। यद्यपि जितनी निवृत्तिवादी धाराएँ रही हैं उनमें योग शब्द सामान्य रूप से प्रचलित रहा है। जैन, बौद्ध और सांख्य इन तीनों में योग शब्द का व्यापक प्रयोग मिलता है।

आचार्य हरिभद्र द्वारा निरूपित योगस्वरूप व पातंजलि योग में निर्दिष्ट योगस्वरूप में भिन्नता व एकरूपता दोनों ही निहित हैं। जब हम 'चित्तवृत्तिनिरोध तथा मोक्षप्रापक धर्मव्यापार इन दोनों अर्थों का स्थूल रूप से चिन्तन करते हैं, तो दोनों अर्थों में भिन्नता परिलक्षित होती है, दोनों में पर्याप्त दूरियाँ दिखलायी देती हैं। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन किया जाये तो एकरूपता भी दिखलाई देती है।

चित्तवृत्ति का निरोध करना एक क्रिया है, साधना है। इसका तात्पर्य है चित्त की वृत्तियों को रोकना। किन्तु यह एकान्तः निषेधात्मक भाव की ही अभिव्यक्ति नहीं करता है, बल्कि विधेयात्मक अर्थ को भी अभिव्यक्त करता है। रोकने के साथ करने का भी संबंध है इसलिए पतंजलि द्वारा प्ररूपित योगस्वरूप का वास्तविक अर्थ यही है कि साधक अपनी संसाराभिमुख चित्तवृत्तियों को रोक कर अपनी साधना को मोक्ष अर्थात् साध्य सिद्धि के अनुकूल बनाये। स्वमनोवृत्तियों को सांसारिक प्रपंच व विषय वासनाओं से विमुख कर मोक्षाभिमुखी बनाये। दूसरी ओर आचार्य हरिभद्र द्वारा निर्दिष्ट योग अर्थात् मोक्ष प्रापक धर्म व्यापार का भी यही अर्थ ध्वनित होता है। इनके अनुसार मोक्ष के साथ सम्बन्ध करने वाली



देवीशंकर शर्मा

सहायक आचार्य,
जैनोलॉजी विभाग,
राजकीय महाविद्यालय,
सरदारशहर

साधन या क्रिया ही योग है।

जैन दर्शन में आध्यात्मिक साधना के परिप्रेक्ष्य में संवर शब्द का प्रयोग हुआ है संवर, आस्रव के निरोध को कहा है।¹ इस तरह संवर और योग दोनों के अर्थ में निरोध शब्द का प्रयोग हुआ है किन्तु दोनों जगह विशेषण अलग हैं— एक चित्तवृत्ति है तो दूसरे में आस्रव। आगमों में आस्रव मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को कहा है। यहां आस्रव में प्रयुक्त योग योगदर्शन में प्रयुक्त चित्तवृत्ति के स्थान पर है। इस प्रकार पतंजलि ने जिसे चित्तवृत्ति कहा है, जैन दर्शन ने उसे आस्रव रूप योग कहा है।

आस्रव योग के दो भेद हैं — सकषाय और अकषाय। ऐसे ही दो भेद चित्तवृत्ति के भी हैं— क्लिष्ट और अक्लिष्ट। जैन दर्शन कषाय के चार भेद मानता है— क्रोध, मान, माया, तथा लोभ। पतंजलि भी क्लिष्ट चित्तवृत्ति के चार भेद मानता है—अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। जैन दर्शन में पहले सकषाय योग और बाद में अकषाय योग के निरोध को कहा है। पतंजलि ने भी पहले क्लिष्ट चित्तवृत्ति के निरोध तथा बाद में अक्लिष्ट चित्तवृत्ति के निरोध की बात कही है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि उपर्युक्त विवेचन यह स्पष्ट करता है कि आचार्य हरिभद्र व पतंजलि के द्वारा निरूपित “योग का स्वरूप” स्थूल दृष्टि से तो भिन्न है, किन्तु यदि उसका सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करते हैं तो उसके अर्थ व विषय में एकरूपता दिखाई देती है।

ईश्वरविषय अवधारणा

योग दर्शन में ईश्वर को परिभाषित करते हुए लिखा है —

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामुष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।²

अर्थात् क्लेश, कर्म, विपाक और आशय रहित पुरुष विशेष ईश्वर है उनकी दृष्टि में ईश्वर एक आदर्श पुरुष है।

आचार्य हरिभद्र की दृष्टि में ईश्वर को सृष्टि के कर्ता-धर्ता के रूप में नहीं किन्तु साधना के अनुग्राहक के रूप में लिया गया है। उन्होंने ने लिखा कि यदि हम ईश्वर का अनुग्रह न मानें तो भी साधक में ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त करने की योग्यता माननी ही पड़ेगी। क्योंकि यदि साधक में अनुग्रह प्राप्त करने की योग्यता नहीं होगी तो ईश्वर का अनुग्रह फलप्रद नहीं हो सकता।³ इस प्रकार यह फलित होता है कि साधक की योग्यता मुख्य वस्तु है अर्थात् साधक अपने आध्यात्मिक विकास के द्वारा अमुक स्तर पर पहुंचकर ईश्वर के अनुग्रह को प्राप्त करने का अधिकारी बन जाता है। इस प्रकार यदि ईश्वर को अनुग्राहक माना जाये तो भी अनुग्रह पात्र बनने का प्रयत्न तो व्यक्ति को ही करना होगा यह अनुग्रह व्यक्ति की योग्यता पर आधारित न हो तो ईश्वर राग-द्वेष से युक्त सिद्ध होगा। वह क्यों कुछ व्यक्तियों पर अनुग्रह करता है और कुछ पर यह अनुग्रह क्यों नहीं करता है। अतः वीतराग ईश्वर अनुग्रह का कर्ता नहीं हो सकता। हरिभद्र का कथन है कि अनादिमुक्त ऐसे ईश्वर की सिद्धि तर्क से शक्य नहीं है।⁴ परन्तु आध्यात्मिक विकास के फलस्वरूप प्रयत्न सिद्ध शुद्ध आत्मा को परमात्मा मानने में कोई

आपत्ति नहीं हो सकती है।

क्रियायोगविषयक अवधारणा

योगसूत्र का प्रथम समाधिपाद उत्तम अधिकारी के लिए है। किन्तु जिसका चित्त समाहित नहीं है, उसके लिए द्वितीय पाद (साधना पाद) में उपाय वर्णित हैं। इनमें तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्राणिधान क्रियायोग है।⁵ आचार्य हरिभद्र के अनुसार भी अंरति निवारण के संदर्भ में भय से आक्रान्त के लिए गुरुशरण, कर्मरोग को मिटाने में तप क्रिया चिकित्सा रूप है तथा मोह रूप विष का प्रभाव नष्ट करने में स्वाध्याय श्रेष्ठ मंत्र है।⁶ हरिभद्र ने आगम वचन अर्थात् शास्त्रयोग के अन्तर्गत आने वाले शास्त्रज्ञान को स्वाध्याय कहा है।⁷ तथा योग पर अधिकार प्राप्त करने के लिए साधक की आवश्यक तैयारी जैसे देव गुरु का पूजन, सदाचार का पालन करना आदि को कहा है।⁸ पतंजलि ने देवशास्त्र के पाठ को स्वाध्याय कहा है।⁹ तथा तप, स्वाध्याय व ईश्वर शरणागति को विधान पर अधिकार प्राप्त करने में सहायक माना है।

इस प्रकार दोनों आचार्यों के मत के साम्य, वैषम्य का अध्ययन करने पर निम्न बिन्दु ध्यान में आते हैं प्रथम तो योगसूत्र ईश्वर प्राणिधान का उल्लेख करता है जबकि हरिभद्र गुरु की शरण का उल्लेख करते हैं। योगसूत्र भी ईश्वर को परमगुरु के रूप में मानता है।¹⁰ जब ईश्वरप्राणिधान का फल समाधि लाभ बताया गया है।¹¹ तप का फल हरिभद्र के अनुसार कर्मरोग का निवारण अर्थात् निर्जरा है, जबकि योग परम्परा भी कर्म, क्लेश और वासना के छिन-भिन करने का साधन तप को मानती है।¹² हरिभद्र ने स्वाध्याय का फल मोह का नाश माना है कि तपस्या शारीरिक क्रिया योग है, स्वाध्याय वाचिक तथा ईश्वरप्राणिधान मानस¹³ अहिंसा क्रिया का न करना है। उसमें जो कष्ट होता है उसे सहन करना तप है।¹⁴

ईश्वर प्राणिधान के दो अर्थ — क्रिया का ईश्वरार्पण कर देना अथवा उसके फल की इच्छा न करना।¹⁵ जैन परम्परा में व्रत के लिए निःशुल्क होना आवश्यक माना है। जिसकी तुलना फल की कामना न करने से की जा सकती है।

आचार्य हरिभद्र व पतंजलि दोनों ने ही योग साधना में कायिक आचार की अपेक्षा मानसिक भावना की उत्कृष्टता को महत्व प्रदान किया है। पतंजलि ने क्रियायोग की अपेक्षा या आवश्यकता बताते हुए कहा है— समाधि की भावना के लिए क्लेशों को तनु करने हेतु क्रिया योग है।¹⁶ अर्थात् तप से शरीर, प्राण, इन्द्रिय व मन की अशुद्धि दूर होने पर वे स्वच्छ होकर क्लेशों को दूर करने और समाधि प्राप्ति में सहायता देते हैं। स्वाध्याय से अन्तःकरण शुद्ध होता है और चित्तविक्षेपों के आवरण से शुद्ध होकर समाहित होनी की योग्यता प्राप्त कर लेता है। ईश्वर प्राणिधान से समाधि सिद्ध होती है। और क्लेशों की निवृत्ति होती है। इस प्रकार की मानसिक भावना को श्रेष्ठ बताते हुए टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने एक उदाहरण प्रस्तुत किया है कि सदबोध मय निष्ठा तथा भाव पूर्वक जो सतक्रिया की जाती है, वह दोषों को सर्वथा नष्ट कर देती है, जिससे वे पुनः नहीं उभर पाते हैं, जैसे भस्म के रूप में बदला हुआ मेढक फिर कभी जीवित नहीं होता।

बाह्य क्रिया अर्थात् शारीरिक क्रिया द्वारा दोषों का सर्वथा क्षय नहीं होता, उपशम मात्र होता है, जिससे वे अनुकूल स्थिति पाकर फिर उभर आते हैं। जैसे – टुकड़े-टुकड़े बना, मिट्टी में मिला मेंढक शरीर वर्षा होने पर जीवित हो जाता है।

आचार्य हरिभद्र ने भी ऐसा ही कहा है— शारीरिक क्रिया अर्थात् देहाश्रित ब्राह्म तप द्वारा नष्ट किये गये दोष मेंढक के चूर्ण के समान है। यहीं दोष यदि भावना अर्थात् मनोभाव अन्तरवृत्ति की पवित्रता द्वारा क्षीण किये गये हो मेंढक की राख के समान समझना चाहिये।¹⁷

इस प्रकार ईश्वरप्राणिधान एवं क्रियायोग को अवलम्बन बना कर क्लेशों को न्यून करके चित्तवृत्तियों का निरोध करने के उपरान्त समाधि के द्वारा योगी परब्रह्म का दर्शन कर पाता है। यहीं योग का चरमोत्कर्ष है।

निष्कर्ष

आचार्य हरिभद्र व पंतजलि दोनों ने ही योग साधना में कायिक आचार की अपेक्षा मानसिक भावना की उत्कृष्टता को महत्व प्रदान किया है। पंतजलि की दृष्टि में ईश्वर एक आदर्श पुरुष हैं। आचार्य हरिभद्र ने ईश्वर को साधना के अनुग्राहक के रूप में माना है। योग सूत्र में ईश्वर प्राणिधान का उल्लेख है जबकि हरिभद्र गुरु शरण का उल्लेख करते हैं।

इस प्रकार दोनों आचार्यों के मत के साम्य, वैषम्य का अध्ययन करने पर कहा जा सकता है कि ईश्वर प्राणिधान एवं क्रियायोग को अवलम्बन बना कर क्लेशों को न्यून करके चित्तवृत्तियों का निरोध करने के उपरान्त समाधि के द्वारा योगी योग के चरमोत्कर्ष अर्थात् परब्रह्म का दर्शन कर पाता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. आस्रवनिरोध संवर 1: तत्वार्थ सूत्र, 9/1
2. पातजल योगदर्शन 1/24
3. विशेषं चास्य मन्यन्ते ईश्वरानुग्रहादिति। प्रधानपरिणमात्तु तथाऽन्ये तत्वादिनः ॥ योगबिन्दुः 265
4. योगबिन्दुः 303-310 शास्त्रवार्तासमुच्चय, 194
5. तपः स्वाध्यायेश्वरप्राणिधानानिक्रियायोगः ॥ पा.यो.द.सू. 2/1 पृ. 146
6. सरणं गुरु उ एत्थं किरिया उ तओति कम्मरोगम्मि। मतो पुण सज्जाओ मोहविस विणासणो पयरो ॥ योगशक गा, 48
7. योगदृष्टिसमुच्चय 4
8. योगबिन्दुः 111-141
9. पातजल योगप्रदीप पृ. 275
10. ईश्वरप्राणिधानं सर्वक्रियाणा परमगुरावर्षणं तत्फल सन्यासो वा ॥ पातजलयोगदर्शन सूत्र 2/1, भाष्य पृ. 146
11. वही, 1/23,
12. अनादिकर्मक्लेशवासनाचित्रा प्रत्युपस्थितविषयजाला चाशुद्धिर्नान्तरेण तपः सम्मेदमापद्यत इति। तपसः उपादानम, पातजल योग सूत्र, भाष्य, पृ. 146
13. वही, पृ. 101
14. वही, पृ. 147
15. वही, पृ. 146
16. वही, 2/1-2
17. कायकिरियाए दोसा खविया मंडुक्कचुन्नतुल्ल त्ति। ते चेव भावणाए नेया तच्छारसरिसन्ति ॥ योगशतक, 86